सोबती की सोहबत में

संपादक
राकेशरेणु

रेखा सेठी

RSethi

किसी के अधीन न होना भी ताकत है

कृष्णा सोबती के रचनाशील व्यक्तित्व में अवज्ञा का स्वर प्रमुख है। ज़िंदगी में गहरे पैठ, समाज की परंपरागत जकड़बंदियों को अस्वीकार करते हुए, जीवन के भिन्न पक्ष से साक्षात्कार करने की बेचैनी, उनकी कृतियों का केंद्र है। 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'ऐ लड़की', 'दिलो-दानिश' आदि सभी रचनाओं में कुछ यादगार स्त्री छवियाँ उभरती हैं जिनमें परंपरागत मान्यताओं के प्रति अस्वीकार का बोध सामाजिक संरचनाओं के निषेध मात्र की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि सामाजिक स्थितियों को पलट कर देखने और उनके भीतर के सत्य को उद्घाटित करने की कोशिश है। यह स्त्री आकांक्षा, यह वह सच है जो संस्कृति और नैतिकता के ढोंग में सदा अदृश्य रखा गया। कृष्णाजी का लेखकीय स्वभाव उन्हें साहित्यकारों की उस अलग पंक्ति में स्थापित करता है जिन्होंने जीवन में आसान समझौतों की राह कभी नहीं अपनाई।

इस पूरी स्थिति में विलक्षण यह है कि अपनी दबंग रचनाकार की छवि के बावजूद कृष्णाजी ने अपने लेखन को कभी स्त्रीवादी मुहावरे से जोड़कर देखा जाना स्वीकार नहीं किया। रचनाकार का यह आग्रह अपनी जगह बिल्कुल सही है कि भारतीय समाज की लाख बंदिशों के बावजूद खुदमुख़्तार स्त्रियाँ हमेशा रही हैं और उनका होना ही जीवंत धड़कते समाज के होने का सबूत है। 'ऐ लड़की' की अम्मू चाहे अपनी बेटी के भावी अकेलेपन की कितनी ही चिंता करें लेकिन माँ और बेटी खूब जानती हैं कि 'संग-संग जीने में रहने में कुछ रह जाता है'। इसीलिए जब वह बेटी से पूछती हैं कि अकेले रहते हुए ज़रूरत पड़ने पर वह किसे आवाज़ देगी तो बेटी निशंक भाव से यह कह पाती है– "मैं किसी को नहीं पुकारूँगी। जो मुझे आवाज़ देगा मैं उसे जवाब दूँगी।" साहित्य में स्त्री-मुक्ति के प्रत्यक्ष मुहावरे से बहुत पहले से ही कृष्णा सोबती की स्त्री किरदार अपने होने में पूरी तरह आश्वस्त हैं।

स्त्री रचनाशीलता ने स्त्री की सामाजिक स्थिति, उसकी भौतिक उपस्थिति तथा अपने समय को परिभाषित करने की उसकी कोशिश को अनेक स्तरों पर अभिव्यक्त किया। नई कहानी के दौर में अधिकांश कथा साहित्य स्त्री-अस्मिता के लिए सवालों और परिवार में उसके अस्तित्व व नैतिकता को लेकर बन रही अंतर्विरोधपूर्ण स्थितियों का लेखा-जोखा है। मन:स्थिति व परिस्थिति के द्वंद्व से उपजी जीवन स्थितियों के बीच स्त्री जीवन की विवशता को बखूबी पढ़ा जा सकता है, जिससे यह उजागर हो जाता है कि परिवार के ढाँचे के भीतर ही दमन के कितने रूप हो सकते हैं। कृष्णा सोबती का कथा साहित्य परिवार और पितृसत्ता से एक भिन्न स्तर पर संवाद स्थापित करता है।

कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र अपने में एक पहेली हैं। उनके यहाँ स्त्री के हर रूप की झलक है—समर्पिता, आज्ञाकारी, गर्वीली, प्रेम निमग्न, गृहस्थी में खटती लेकिन संतुष्ट स्त्रियाँ, स्वामिनी-सेविका-रखैल आदि। कृष्णाजी की सिरजी पात्रों की ख़ासियत यह है कि वह सब अपनी ज़िंदगी, अपनी शर्तों पर जीती हैं। मनुष्यता के स्तर पर वह महान भले ही ना हों लेकिन तंगदिल भी नहीं हैं। वे दुनिया के उस खेल को समझती हैं जहाँ 'एक बार का थिरका पाँव ज़िंदगानी धूल में मिला देगा' ('डार से बिछुड़ी'); जहाँ स्त्री जीवन की सार्थकता अपने स्वामी को खुश रखने में है या फिर उपजाऊ धरती हो जाने में। यह सब पितृसत्तात्मक समाज की पारिवारिक व्यवस्था के असुविधाजनक सवाल हैं जिन्हें कृष्णा सोबती ने समय से बहुत पहले बेपर्दा किया लेकिन बतौर लेखिका 'स्त्री-लेखन' की सीमा में अपनी पहचान बनाना भी उन्हें मंजूर नहीं। केवल अस्वीकार ही काफ़ी नहीं, उन्हें इस तरह के वर्गीकरण पर ख़ासा ऐतराज़ रहा।

अपने सर्जक के समान उनकी कथा-कहानियों के पात्र भी अदम्य जिजीविषा व साहस के बल पर साधारण-सी दिखने वाली जीवन स्थितियों में अपनी सच्ची खरी उपस्थिति से एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा कर देते हैं। 'मित्रो मरजानी' को पढ़ते हुए आप कृष्णा सोबती को एक क्षण के लिए भी भूल नहीं सकते। अपने ख़ास तेवर में साठ के दशक में स्त्री-अस्मिता और नैतिकता के स्थाई द्वंद्व के बीच में वह मित्रो की सजीव उपस्थिति से मानो यह दर्ज करना चाहती हों कि स्त्री का एक रूप यह भी है जो समाज की सभी रूढ़ मान्यताओं के बीच अधिक सच्चा व माननीय है। अपने होने और जीने का अर्थ तलाशती मित्रो जिन आकांक्षाओं का आग्रह

करती है उससे समाज की स्थिर मर्यादाओं और नैतिकताओं में विस्फोट अवश्य पैदा होता है। यह परंपरागत मान्यताओं का निषेधात्मक विरोध उतना नहीं है जितना की स्थिति को पलट कर देखने की कोशिश जिसमें एक नए जीवन सत्य का अहसास होता है जो स्त्री के मातृत्व व देवत्व से गढ़ी महिमामंडित छवियों के विरोध में उसकी नसों में बहती कामनाओं का पता देती है। स्त्री की यह छवि अधिक वास्तविक यथार्थ है। ''मित्रो की देह की आदिम अगन किसी भी अपराधबोध से परे है। वह सिर्फ़ परिवार की बहू, बेटी, भावज और सरदारी की पत्नी ही नहीं.... पर वह कुछ और..... कुछ और भी। वह अपनी संख्या में ढूँढती है अपनी अस्मिता को। यह मैं हूँ... मैं भी। परिवार के बीचोबीच उसकी छटपटाहट एक शोर पैदा करती है। एक देह भाषा गढ़ती है।'' (कृष्णा सोबती)

मित्रो अपने शारीरिक सौंदर्य पर स्वयं तो रीझती ही है और साथ ही यह भी चाहती है कि और लोग भी उसके इस भाव को स्वीकारें। वह गृहस्थी को लच्छमन की लीक नहीं मानती; परिवार के अनुबंधों को स्वीकार नहीं करती; उसके तन ऐसी हौंस व्यापती है जो पारिवारिक मर्यादाओं के विपरीत पड़ती है। उसका पति सरदारी उसकी ज़रूरत नहीं समझता। इसलिए मित्रो अपने जेठ बनवारी से ही अपेक्षा करने लगती है, ''अनोखी रीत इस देह-तन की। बूँद पड़े तो थोड़ी, न पड़े तो थोड़ी। आज भड़वा बनवारी ही जो बनाव-सिंगार देखता।'' एक भारतीय परिवार की बहू का अपने जेठ के प्रति ऐसा भाव उसके चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए काफ़ी है। इसीलिए वह उस संयुक्त परिवार में 'मिसफ़िट' हो जाती है। इस दृष्टि से विश्वनाथ त्रिपाठी का मत महत्वपूर्ण है, ''मित्रो इस कहानी में संयुक्त परिवार की भीरु आत्मतुष्ट दुनिया के सर पर पड़ने वाली डंडे की चोट है।'' यह स्थिति उस भारतीय परंपरा से मोहभंग की स्थिति है जहाँ विवाह दो शरीरों का सहयोग नहीं दो आत्माओं का पवित्र बंधन माना जाता है। मित्रो के इस पूरे आचरण में कहीं भी पाप-बोध या कुंठा का भाव नहीं है क्योंकि उसके लिए उसकी देह उसकी पहचान भी है, अभिव्यक्ति भी। समस्त पारिवारिक मर्यादाओं को परे रख उसमें अपनी बात खुलकर कहने की शक्ति भी है।

परिवार, वह संस्था है जो स्त्री के स्त्रीकरण के लिए उत्तरदायी है। वह स्त्री से त्याग की अपेक्षा करते उसे लगातार उसके अधिकारों से वंचित किए रहती है। मित्रो की दैहिक चेतना इन परंपराओं और नैतिकताओं के

आवरण को चीरती हुई ऐसे प्रश्न उपस्थित कर देती है जो महत्वपूर्ण होते हुए भी अनुत्तरित हैं---''जिंद जान का यह कैसा व्यापार? अपने लड़के बीज डालें तो पुण्य, दूजे डालें तो कुकर्म'' मित्रो इन प्रश्नों से हजारों आदर्शों और मर्यादाओं की ओट में छिपे हमारे सामाजिक अंतर्विरोध उधेड़कर हमारे सामने रख देती है। पितृसत्ता, स्त्री देह पर नियंत्रण से ही टिकी हुई है और इसे सुरक्षित रखने के लिए पुरुष युद्ध व हिंसा की किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। देह-विदेह के दार्शनिक आख्यानों से स्वयं को गौरवान्वित करने वाली संस्कृति में देह की अभिव्यक्ति लगभग निषिद्ध है। मित्रो इस विचार के लिए चुनौती है। मित्रो के चरित्र में उभरता द्वंद्व स्त्री रचनाशीलता व स्त्री चिंतन का ऐतिहासिक द्वंद्व है। स्त्री-अस्मिता और स्त्री यौनिकता के प्रश्न आज भी पूरे विमर्श के केंद्र में हैं। स्त्री के लिए विशेष रूप से निश्चित की गई यौन शुचिता भारतीय पारिवारिकता का मूल आधार है।

'ऐ लड़की' में अम्मू का कथन- ''देह तो एक वसन है, पहना तो इस ओर चले आए, उतार दिया तो परलोक....'' कबीर की उसी दार्शनिक उदात्तता को प्रतिध्वनित करता है जहाँ 'फूटा कुंभ, जल-जल कि सामना.....' यही सार तत्व है। इस सबके बीच उद्दाम इच्छा और वासना से लक-दक मित्रो की दैहिकता परिवार और समाज के लिए बहुत बड़ी पहेली है। पूरे उपन्यास में यह प्रश्न बार-बार आता है कि मित्रो की आकांक्षाओं के अधूरेपन के लिए उसका पति कितना उत्तरदायी है। उसकी सास धनवंती अपने पुत्र की संग-सेहत को लेकर चिंतित है। बड़े बेटे और बहू से अलग-अलग टोह लेना चाहती है कि मित्रो के आरोप कहीं सच्चे तो नहीं। पूरे उपन्यास में कोई भी आधिकारिक तौर पर नहीं कह पाता कि सरदारी लाल में कोई कमी है बस यही कि मित्रो जैसी स्त्री उसके बस से बाहर है। मित्रो की इच्छा-कामना को निभा पाना साधारण मर्द के लिए संभव नहीं। सरदारी लाल का अपनी पत्नी से हर रोज़ का धौल-धप्पा उसकी अपनी सीमाओं के साथ-साथ मित्रो को लेकर चलने वाले अपवादों से भी जुड़ा है। मित्रो अपने जिस रूप को अपनी ताकत मानती है और हर क्षण यह तौलती रहती है कि कौन मर्द जना होगा जो इस पर न रीझ जाए, वही सरदारी लाल के दिल में काँटे-सा चुभता है। उसकी परेशानी इस बात से बढ़ती है कि मित्रो अपने देह पर अपने पति के एकछत्र अधिकार को ख़ारिज कर रही है।

असल में, मित्रो के पास चीज़ों को तोलने-परखने की अपनी दृष्टि है। वह ज़िंदगी को सही और ग़लत के ख़ानों में बाँटकर नहीं देखती बल्कि उसे वह जीवन की समग्रता में देखती है। इसीलिए जब सरदारी के आरोप लगाने पर मित्रो से पूछा जाता है कि वह सच है या झूठ, तब उसका उत्तर स्पष्ट है----- ''सज्जनों। यह सच भी है और झूठ भी।'' जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि झूठ और सच के बीच की विभाजक रेखा अत्यंत क्षीण है। संदर्भों के बदलते ही झूठ और सच की अवधारणा भी बदलने लगती है। मानवीय अनुभव का हल्का-सा संस्पर्श भी हमारी पूरी मूल्यगत चेतना को हिलाकर रख देता है। मित्रो ने जीवन का यही अर्थ समझा है---- ''सोने-सी अपने देह झुर-झुरकर जला लूँ? या गुलजारी देवर की घरवाली की न्याई सुई-सिलाई के पीछे जान खपा लूँ? सच तो यूँ जेठजी, कि दीन-दुनिया बिसरा मैं मनुक्ख की जात में हँस-बोल लेती हूँ। झूठ यूँ कि खसम का दिया राज-पाट छोड़े मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी?'' मित्रो का यह जीवन-बोध 'परिवार की अवधारणा' के लिए बहुत बड़ी चुनौती है।

पितृसत्तात्मक समाज में यद्यपि स्त्री-देह की आकांक्षा सबसे प्रबल है फिर भी स्त्री के लिए वह वर्जित ही है। साठ के दशक में मित्रो की यह ठसक लगभग अप्रत्याशित है जिसने रचना और आलोचना को समान रूप से अचंभित किया। अपने सौंदर्य पर रीझने वाली औरतें साहित्य में अत्यंत दुर्लभ हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने मित्रो की इस वृत्ति को 'आदिम कुंठाहीनता' तो स्वीकार किया लेकिन उपन्यास की व्याख्या 'देह के संस्कार तथा परिवार के संस्कार' की टकराहट के रूप में की। निर्मला जैन ने भी इसी विचार पर मुहर लगाते हुए लिखा, ''मित्रो मरजानी में भले ही सबसे तीखी आवाज़ इस आदिम कुंठाहीनता की हो पर अपनी परिणति में यह संयत संतुलित सामाजिकता की तरफ़ वापसी की कहानी है।''

कहानी में जितनी लक-दक दैहिक आकांक्षा है, उतनी ही लक-दक पारिवारिकता भी है। हँसता-बोलता गुरुदास-धनवंती का परिवार जिसकी रौनक भी बोली-ठोली मारने वाली मँझली बहू सुमित्रवंती (मित्रो) ही है। उपन्यास का आरंभ घर की जिस पहचान से होता है वह कृति के अंत तक बनी रहती है। उपन्यास की शुरुआत इन पंक्तियों से होती है----- ''मटमैले आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा रोशनदान से उतर चौकोर शीशों पर आ चुका तो नींद में बेखबर सोए गुरदास सहसा अचकचाकर

उठ बैठे। बाँह बढ़ा खिड़की से चश्मा उठा आँखों पर रखा और चौकन्ने हो कमरे की पहचान करने लगे। यह रहा कोने में रखा अपना छाता, खूँटी पर लटका लंबा कोट, अपना ही घर है।'' कमरे में रखा सामान केवल वस्तु भर नहीं है, गुरुदास की पहचान उन सबसे जुड़ी है। 'अपना ही घर है' का अहसास उन्हें सुरक्षा और आत्मविश्वास से भर देता है। 'घर' जो बना है रिश्तों-संबंधों से। गुरदास के जीवन का अर्जित सत्य है---''घर-गृहस्थी के जंजाल में भी मनुक्ख घाटे में नहीं रहता।''

मित्रो के जीवन का अर्जित सत्य क्या है? गुरदास-धनवंती के परिवार का प्रतिपक्ष है मित्रो का मायका जहाँ उसकी 'कारोबारन' माँ के रीतते जीवन का बियाबान है। पारिवारिकता की ऊष्मा और उसके विरोध में उभरता बालो के जीवन का सूनापन, मित्रो का संबंध इन दोनों से है। वह जीवन के इन दोनों रूपों के अंतर्विरोध को जीकर पारिवारिकता के सत्य को पहचानती है। उपन्यास के अंत में सरदारी के पास लौटने के निर्णय से मित्रो की प्राथमिकता देह की अपेक्षा संबंधों की गहराई की बन जाती है, जिसे विश्वनाथ त्रिपाठी 'आदिमता से मानवीयता' तक की यात्रा कहते हैं। भावना से सँवलित होने पर ही काम परिष्कृत होता है। क्या मित्रो कृति के अंत में इसी सत्य तक पहुँचती है, यह कठिन सवाल है।

अपनी माँ के घर जाती मित्रो के मन में एक अलग ही उमंग थी। मायके की गली-बाज़ार से गुज़रते हुए पुराने यारों की फब्तियाँ उसके होठों पर मुस्कान बन खेलती हैं। रूप-यौवन के गर्व में मदांध मित्रो माँ के पुराने यार (ख़रीदार) से मिलने चली तो दोनों स्त्रियों के जीवन में क्लाइमेक्स का क्षण एक साथ घटित होता है। मित्रो जब छज्जे वाली पौड़ियाँ चढ़ी तो बालो के कलेजे में हूक उठी---''जो डिप्टी सौ-सौ चाव कर तेरी शरण आता था, वही आज इस लौंडिया से रंगरलियाँ मनाएगा। थू री बालो तेरी ज़िंदगी पर।'' उधर, मित्रो के लिए भी यह निर्णय का क्षण है। अपने सुच्चे-सच्चे मर्द को नशे में बेसुध कर जो मित्रो आगे बढ़ी, वह अपनी कामना को नियंत्रित कर फिर उसी की बग़ल में आ लेटी। क्या यह पारिवारिक संस्कार की विजय है? क्या यह कृष्णा सोबती की पक्षधरता का प्रतीक है जहाँ वह स्त्री के स्वतंत्र-स्वच्छंद जीवन को पारिवारिक आग्रह की ओर मोड़ देना चाहती हैं। यह जीवन की उद्दामता को उच्छृंखलता का पर्याय मान कर नियंत्रित-संस्कारित जीवनशैली की वरीयता की पहचान है। इन सवालों के सीधे जवाब नहीं हैं।

कहानियों और उपन्यासों का सांकेतिक अंत होता है जीवन का नहीं। मित्रो की कहानी का अंत हो सकता है, मित्रो का नहीं। सरदारी लाल के साथ मित्रो जब ससुराल लौट जाएगी तो क्या बदली हुई होगी, कहना कठिन है। इस उपन्यास तथा कृष्णा सोबती के लेखन की सार्थकता इसी में है कि हम जान पाए कि मित्रो जैसी स्त्रियाँ भी हैं जो स्त्री-अस्मिता और स्त्री मुक्ति की रूढ़ होती परिभाषा को चुनौती देती हैं। वे जान पाती हैं कि अपनी मनमर्ज़ी से जीना, 'किसी के अधीन ना होना भी ताकत है, सामर्थ्य है।'